संलेषना-संथारा के कुछ प्रेरक प्रसंग

—उपाध्यायश्री केवल मुनिजी

संलेखना और संथारा के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जीवन की उस निष्काम, निःसंग और स्थितप्रज्ञ स्थिति में प्रवेश है, जहाँ न तो भोगों की कामना शेष रहती है, न शरीर की आसक्ति। क्षुधा की पीड़ा, शरीर की वेदना, स्वजन और मित्रों की ममता और कषायों की तपन—सब कुछ वहाँ शान्त हो जाती है। संयोग-वियोग जनित घटनाएँ उसके अन्तर्मन को प्रभावित तो क्या, स्पर्श भी नहीं कर पाती। आलोयणा (आत्म-निरीक्षण एवं प्रायश्चित्त) द्वारा वह अपने मन-मस्तिष्क की शुद्धि कर लेता है। इस प्रकार साधक परम प्रसन्न, शान्त और निर्विकार स्थिति में आत्म-रमण करने लगता है। सुख दुख की बाह्य अनुभूतियाँ उसके अन्तर् में प्रवेश नहीं कर पातीं। अन्तर्तम में वह प्रतिपल परमानन्द—परम प्रसन्न स्थिति का अनुभव करता रहता है।

प्राचीन काल से लेकर आज तक अगणित साधकों ने इस पथ का अनुसरण कर जीवन को कृतार्थ किया है, मृत्यु को मंगलमय बनाया है और जीवन के अन्तिम क्षणों में उस दिव्य स्थिति का अनुभव किया है जिसका वर्णन शब्द नहीं कर सकते। केवल अन्तिम समय में तपस्वि-साधकों के भावों से प्रकट होता है। उनकी प्रसन्न मुद्रा से झलकता है अद्‌भुत तेज, प्रकाश और अनिर्वचनीय शान्ति।

जैन आगमों में इस प्रकार के अनेकानेक वर्णन उपलब्ध हैं, जिन्हें पढ़/सुनकर उन साधकों की इस दिव्य स्थिति की कल्पना की जा सकती है।

मृत्युंजयी—गजसुकुमार

जैन आगमों में समाधिमरण की एक बहुत प्राचीन घटना है—समत्वयोगी गजसुकुमार की।

वासुदेव श्रीकृष्ण के छोटे भाई युवक गजसुकुमार भगवान अरिष्टनेमि के पास जिस दिन दीक्षा लेते हैं, उसी दिन मध्यान्ह के बाद वे महाकाल श्मशान में जाकर एक अहोरात्रि की महाभिक्षु प्रतिमा धारण करके ध्यानस्थ हो जाते हैं। कायोत्सर्ग की इस मुद्रा में वे देह के आधार पर स्थित जरूर हैं, परन्तु देह के सुख-दुख की अनुभूतियों से मुक्त होकर आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं। उस समय सोमिल नामक व्यक्ति ने पूर्व वैर का बदला लेने के लिए उनके सिर पर मिट्टी की पाल बाँधी और उसमें धधकते अंगारे लाकर डाल दिये। गजसुकुमार का शरीर जलने लगा, खिचड़ी की तरह माँस और रुधिर तपने/पकने लगा। कितनी असह्य मारणांतिक वेदना, पीड़ा हुई होगी? मन की आँखों से उस दृश्य की कल्पना करने पर आज भी रोम-रोम काँपने लगता है। इस उदग्र पीड़ा के क्षणों में भी गजसुकुमार वैसे ही शान्त और ध्यान लीन रहे। शरीर जल रहा है, रुधिर माँस जल रहा है, हड्डियाँ भी जल रही है; परन्तु गजसुकुमार को जैसे इस वेदना से कुछ भी लेना-देना नहीं। वे सोचते हैं—देह जलने पर मेरी आत्मा नहीं जलती, मेरे ज्ञान-दर्शन और सुखमय स्वरूप पर कोई भी आँच नहीं आ रही है। जिसने मुझे यह उपसर्ग किया है वह तो मुझे संसार से मुक्त होने में सहायता करने वाला मित्र है, सहायक है। इस प्रकार पवित्र प्रसन्न मनःस्थिति में ही खड़े-खड़े उनकी समूची देह लकड़ी के ढाँचें की तरह जल जाती है परन्तु गजसुकुमार की समाधि, मारणांतिक संलेखना नहीं टूटती। उसी रात्रि में उनका मोक्ष हो जाता है।

मुनि गजसुकुमार ने यद्यपि दीर्घकालीन संलेखना संथारा का आचरण नहीं किया था, परन्तु एक ही रात्रि के समाधियोग में अपार सहिष्णुता और आत्म-लीनता का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, वह समाधिमरण का एक अनूठा उदाहरण है।[1]

इसी अन्तकृद्‌दशा सूत्र में इस प्रकार के नब्बे साधकों का वर्णन आता है। जिन्होंने विविध प्रकार की दीर्घकालीन तपस्याएँ कीं, काली-महाकाली आदि आर्याओं ने तथा गौतम कुमार, जाली, मयालि, आदि अणगार श्रमणों ने पहले तपस्या करके शरीर को कृश किया, फिर धीरे-धीरे मासिक अनशन, मारणांतिक संलेखना संथारा द्वारा शरीर त्यागकर मोक्ष प्राप्त किया।

धन्ना अणगार की संलेखना-संथारा

अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र में काकंदी नगर में जन्मे धन्ना अणगार आदि तपस्वियों के जो वर्णन उपलब्ध हैं, उन्हें पढ़ने से मन रोमांचित हो उठता है। सुख-सुविधाओं में पलने वाला, धन्ना जैसा श्रेष्ठीपुत्र जब विरक्त होकर साधना पथ पर बढ़ता है तो पीछे मुड़ कर नहीं देखता। स्वाध्याय, ध्यान आदि के साथ-साथ लम्बी तपस्याएँ करते हुए उसके सुकुमार सम्पुष्ट देह की क्या स्थिति हुई इसका रोमांचक वर्णन आगम की भाषा में इस प्रकार है—

"दीर्घ तपस्या के कारण धन्ना अणगार के शरीर का रुधिर माँस सब कुछ सूख गया था। उनकी कटि (कमर) इतनी पतली हो गई थी, जैसे ऊँट का पैर हो, अथवा किसी बूढ़े बैल का पैर हो।

उनके घुटने इतने दुर्बल कृश हो गये थे, जैसे मयूर के पैर हों।

धन्ना अणगार का उदर माँस सूखकर ऐसे दीखता था जैसे, सूखी हुई मशक हो।

दीर्घ तप के कारण उनका सम्पूर्ण शरीर सूखकर काँटा हो गया था। एक कंकाल की तरह ! उसमें सिर्फ हड्डी, नसें और चमड़ी ही दीखती थी। रुधिर माँस का वहाँ दर्शन भी नहीं होता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु इतनी दुर्बलता में भी उनके चेहरे पर एक अद्‌भुत तेज और प्रकाश दमकता था, जैसे हवन की अग्नि अपने तेज से शोभित होती है, वैसे उनका शरीर तपस्तेज से अतीव -अतीव दीप्त/शोभित होता रहता था।[२]

धन्ना अणगार इस प्रकार दीर्घकालीन तपस्या (संलेखना) करने के पश्चात् अपने शरीर को निःसत्व समझकर अन्तिम समय में संथारा करने के लिए भगवान की आज्ञा लेकर विपुलाचल पर्वत पर आरोहण करते हैं और वहाँ व्रतों की आलोयणा/प्रायश्चित्त आदि करके समस्त जीव राशि के साथ क्षमापना और परम मैत्री भावना करते हुए मासिक संलेखना (संथारा) पूर्वक उच्च शुद्ध शान्त भावों के साथ देह त्यागकर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होते हैं।

आगमों के इन वर्णनों से यह भी ध्वनित होता है कि जैन परम्परा में हजारों शताब्दियों पूर्व भी जीवन-मरण का यह आत्म-विज्ञान उपलब्ध था जिसके अनुसार हजारों हजार साधक संसार सरोवर में कमल की भाँति निर्लिप्त जीवन जीते हुए अन्तिम समय में धीरे-धीरे शरीर को तपस्या द्वारा कृश करते, मोह कषाय आदि वासनाओं को ध्यान द्वारा भस्मीभूत करते, परमसमाधि पूर्वक शरीर का त्याग करके सद्‌गति का वरण करते थे।

पूज्य श्री धर्मदासजी म. का संथारा–

वर्तमान समय की चर्चा करने से पहले इतिहास प्रसिद्ध एक घटना का उल्लेख करना भी महत्वपूर्ण होगा।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के आदि पुरुष पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज एक महान् वैरागी और वज्र संकल्प के धनी संत थे। वि. सं. १७०१ में सरखेज (अहमदाबाद) में आपका जन्म हुआ और वि. सं. १७२१ में संयम ग्रहण किया। आपके ९९ शिष्य हुए जिनमें २२ शिष्य बहुत विद्वान और प्रभावशाली थे, जिनके कारण आगे चलकर बाईस सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुए।

एक बार धार में आपके एक शिष्य ने अपरिपक्व मनोदशा में संथारा ग्रहण कर लिया, कुछ दिन बाद उसकी मनःस्थिति डांवाडोल हो उठी। आचार्यश्री ने जब यह घटना सुनी तो बड़ा दुख हुआ। सोचा–"यदि साधु संथारे से उठ जायेगा तो जैन धर्म की बड़ी निन्दा होगी। जैन श्रमण के त्याग और नियम का ही तो महत्व है, स्वीकृत प्रतिज्ञा भंग होने से तो जैन मुनियों की गरिमा को चोट पहुँचेगी।"

आपश्री ने मन ही मन दृढ़ निश्चय किया और उग्र विहार कर धार पहुँचे, मुनि को समझाया–स्वीकृत प्रतिज्ञा से हटना उचित नहीं है। किन्तु जब वह मुनि स्थिर नहीं हो सका तो पूज्य श्री ने उसको वहाँ से उठाया और स्वयं को संथारे के लिए समर्पित कर दिया। स्वीकृत नियम और धर्म गरिमा की रक्षा के लिए उन्होंने प्राणों का मोह त्यागकर एक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया। पूज्य धर्मदास जी म. का यह संथारा आज भी हजारों साधकों के लिए प्रेरणा का प्रकाश पुंज बना हुआ है।

आनन्दमय समाधिमरण की यह अविच्छिन्न परम्परा जैन परम्परा में आज भी प्रचलित है। श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों ही आम्नायों में आज भी संलेखना, समाधिमरण, संथारा का वही महत्व है। संलेखना जीवन की परम उपलब्धि है। प्रत्येक साधक की यह अन्तर् अभिलाषा रहती है कि मैं जीवन के अन्तिम समय में संलेखना संथारा करके जीवन को कृतकृत्य करता हुआ, समाधिपूर्वक प्राण त्याग करूँ।

आज के युग में संथारा के कुछ विशिष्ट उदाहरण हमारे सामने हैं, जिनकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ प्रासंगिक होगी।

तपस्वी जगजीवन मुनिजी का संथारा–

सौराष्ट्र में जन्मे तपस्वी श्री जगजीवन जी म. स्थानकवासी जैन परम्परा के एक प्रभावशाली सन्त थे।

वि. सं. १९४३ में दलखाणिया (सौराष्ट्र) में उनका जन्म हुआ। जीवन की प्रौढ़ अवस्था में अपना भरा पूरा समृद्ध परिवार, धन वैभव, मान प्रतिष्ठा आदि का मोह त्याग कर बड़े वैराग्य भाव के साथ अपने एक पुत्र तथा दो पुत्रियों के साथ जैन दीक्षा ग्रहण की। गुजरात आदि प्रदेशों में विचरने के पश्चात् पूर्व भारत में विहार करने लगे। लगभग ८२ वर्ष की अवस्था में उन्हें शरीर की अशक्तता का अनुभव होने लगा। उनके मन में संकल्प उठा कि अब मैं भगवान महावीर की उपदेश भूमि राजगृह के उदयगिरि पर्वत पर जाकर संलेखना संथारा पूर्वक इस नश्वर शरीर का त्याग करूँ। उनके योग–शुद्ध अन्तःकरण में यह प्रतिभास होने लगा कि अब यह शरीर अधिक दिन टिकने वाला नहीं है। अतः मैं ध्यान, समाधि और समतापूर्वक संलेखना करते हुए इस शरीर को मृत्यु आने से पूर्व ही मृत्यु के लिए तैयार कर लूँ और एक समाधिपूर्ण सजग मृत्यु का वरण करूँ।

इस लक्ष्य के प्रति समर्पित होकर अत्यन्त दृढ़ मनोबल के साथ मुनिश्री जी ने उदयगिरि पर्वत की तलहटी में पहुँचकर तपस्या संलेखना का प्रारम्भ किया। संलेखना के प्रारम्भिक काल में शारीरिक दृष्टि से अशक्त तो थे, परन्तु विशेष अस्वस्थ नहीं थे। एक मास के निरन्तर उपवास से उनका शरीर सूखता चला गया। किन्तु वाणी में वही ओज था। चेहरे पर पहले से भी अधिक स्फूर्ति और चमक थी। इस संलेखना के क्रम में भारत के सुदूर अंचलों से हजारों श्रद्धालु मुनिजी के दर्शनार्थ आने लगे। बिहार के राज्यपाल, मुख्यमंत्री आदि अनेकानेक राजनेता, पत्रकार, साहित्यकारों का भी तपस्वी मुनिजी के दर्शनार्थ आने का ताँता लग गया। जापान के बौद्ध धर्म गुरु श्री फुजी गुरुजी भी अपनी शिष्य मण्डली सहित आये, और बौद्ध धर्म पद्धति के अनुसार मुनिजी की स्तुति वन्दना करते हुए बोले–"मैं ८४ वर्ष का हूँ, आपके पीछे-पीछे मैं भी आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहा हूँ।" संलेखना तपस्या के उनतीसवें दिन मुनिश्री जी ने यावज्जीवन संथारा ग्रहण करने की दृढ़ इच्छा व्यक्त की। तदनुसार उनके लिए ४×६ का एक घास का बिछौना (संस्तारक) बिछाया गया। मुनिजी उसी पर आसीन हुए जो संथारे के अंतिम क्षण तक उसी मर्यादा में रहे। व्रतों की आलोयणा एवं प्रायश्चित्त आदि करके मुनिश्री ने अरिहंत सिद्ध भगवान को नमस्कार करके यावज्जीवन संथारा पचखा। संथारा पचख लेने के बाद उनके चेहरे पर निश्चिंतता, प्रसन्नता और अपूर्व समाधि का भाव प्रकट हो रहा था। जो इसके पहले कभी नहीं देखा गया।

इकतालीसवें दिन दार्शनिक संत आचार्य विनोबा भावे राजगृह आये, और सीधे तपस्वीजी के दर्शन करने उदयगिरि की तलहटी में पहुँचे। विनोबाजी ने तपस्वी जी के चरणों में अपना सिर रख दिया और गद्गद् होकर गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ योगी के शान्त स्वरूप का साक्षात् किया। उन्होंने मुनिश्री जी से रस ग्रहण करने तथा पानी चालू रखने की भी विनती की। तपस्वी जी ने दृढ़ता के साथ प्रेमपूर्वक कहा-"अब खाने-पीने की बात करने का समय निकल चुका है।" श्री जयप्रकाश नारायण भी सपत्नीक तपस्वीजी के दर्शन करने आये। उनका तपस्तेज और प्रसन्न मुखमुद्रा देखकर नतमस्तक हो गये।

तपस्या काल में मुनिजी अधिकतर मौन और ध्यानस्थ जैसे रहते। ४२वें दिन जैसे उनको कुछ अन्तर्ज्ञान हो गया हो, अपने पुत्र जयंत मुनिजी की हथेली पर लिखकर सूचना दी-"हवे मने असातानो उदय थशे, परन्तु गबराशो नहीं।" अब शरीर में कुछ असाता का उदय होगा, किन्तु तुम लोग घबराओगे नहीं। इसके बाद मुनिजी के शरीर में निर्जल उपवास की गर्मी से कई प्रकार की असह्य व्याधियाँ उठ खड़ी हुई, किन्तु उस असह्य शारीरिक वेदना में भी मुनिजी अत्यन्त शांत और प्रसन्न थे। अन्तिम समय तक उनके अन्दर सजगता बनी रही। अन्तिम क्षणों की महावेदना को भी शांति के साथ भोगते रहे। ४५वें अन्तिम दिन[३] शरीर त्यागने से कुछ समय पूर्व ही वे लगभग स्थिर योगमुद्रा में लीन से हो गये। मृत्यु के समय न कोई हिचकी आई न आँखें फटीं। जिस मुद्रा में सोये थे, उसी मुद्रा में चिर स्थिरता प्राप्त कर ली।[४]

तपस्वी जगजीवन मुनिजी का यह संलेखना संथारा हजारों प्रबुद्ध व्यक्तियों ने देखा और यह अनुभव किया कि जीवन को कृतार्थता के शिखर पर चढ़ाने की यह कला, समाधिपूर्वक देह त्याग की यह आत्मविजयी शैली हर साधक की अंतिम मनोकामना है।

तपस्वी श्री चतुरलालजी म. का संथारा

सौराष्ट्र में दरियापुरी सम्प्रदाय की परम्परा में तपस्वी श्री चतुरलालजी महाराज का संथारा बहुत प्रसिद्ध व प्रभावशाली माना जाता है। उनमें शरीर की असह्य वेदना के प्रति अपार तितिक्षा और सहिष्णुता का भाव देखकर जनता आश्चर्य मुग्ध थी।

मुनिश्री का जन्म वि. सं. १९३६, चैत्र मास में सौराष्ट्र के पींज ग्राम में हुआ। लगभग २३ वर्ष की भर जवानी में ही हृदय में तपस्या की लौ जल उठी। अनेक प्रकार की तपस्याएँ कीं। स्वाध्याय, सामायिक आदि करने लगे।

वि. सं. १९९५, साठ वर्ष की उम्र में पूज्य भायचन्द्र जी महाराज के पास भागवती जैन दीक्षा ग्रहण की। श्री चतुरलालजी महाराज स्वभाव से बहुत ही सरल और अत्यन्त करुणाशील थे। दीक्षा के बाद वे निरन्तर एकान्तर तप करते रहे। जीवन में उन्होंने ८ मासखमण तप किये, व अन्य भी अनेक प्रकार की तपस्याएँ कीं।

लगभग ८२ वर्ष की उम्र में उन्हें प्रोटस्टेट ग्रंथि की असह्य वेदना उठी। डाक्टरों ने आपरेशन के लिए कहा, किन्तु तपस्वीजी ने आपरेशन की जो विधि पूछी तो उन्हें लगा, इसमें मेरे गृहीत महाव्रतों में दोष लगेगा। अनेक विकल्पों के पश्चात् उन्होंने मन ही मन में निर्णय लिया-

इदं शरीरं प रिणामपेशलं
पतत्यवश्यं श्लथसंधि जर्जरम्।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते!
निरामयं वीर रसायनं पिब!

-यह शरीर क्षण विनाशी है, रोगों का धाम है, कितनी ही इसकी संभाल व रक्षा करो, एक दिन अवश्यमेव नष्ट होगा। फिर हे अज्ञानी जीव! औषधि आदि से रक्षण करने का क्लेशदायी मोह क्यों करता है? वीर वचन रूपी रसायन का पान कर, जिससे तू पूर्ण निरामयता प्राप्त कर सकेगा।

शरीर और आत्मा की पृथक्ता का बोध करते-करते मुनिजी धीरे-धीरे शरीर के प्रति अनासक्त होते गये। वेदनाओं से जूझते रहे, और जब देखा, अब यह शरीर नष्ट होने वाला है, मेरी निर्दोष साधुचर्या के योग्य नहीं रहा है, तो उन्होंने संलेखना (क्रमिक तपस्या) प्रारंभ कर दी। १५ दिन की संलेखना के पश्चात् उन्होंने यावज्जीवन अनशनव्रत ग्रहण कर लिया। हजारों श्रद्धालु जनों ने उनके दर्शन किये और देखा कि रोगों से आक्रांत शरीर के प्रति वे एकदम ही निरपेक्ष थे। जैसे शरीर की वेदना उनके मन को किंचित् मात्र भी स्पर्श नहीं कर रही है। उनके चेहरे पर अपूर्व शांति झलकती थी।

उपवास के ४२वें दिन अर्थात् अनशन संथारा के २८वें दिन जीवन की अन्तिम घड़ी में आलोयणा आदि करके चौविहार अनशन स्वीकार कर लिया। उस समय उनके अन्तःकरण में जो आनन्द और प्रफुल्लता उमड़ी उसकी झलक उनके चेहरे पर देखकर दर्शक मुग्ध हो उठे। कहते हैं कि उस उज्ज्वल परिणाम धारा में कोई विशिष्ट ज्ञान भी हुआ, ऐसा संभव लगता है। उन्होंने अपने भाव प्रकट करने चाहे, किन्तु वाणी की शक्ति लगभग क्षीण हो चुकी थी, इसलिए एक कागज व पैन लेकर उन्होंने लिखा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''पांचमुं देवलोक वि. १८० मुकटा'' उपस्थित दर्शकों का अनुमान है कि संभव है उन्होंने, अपने आगामी भव के विषय में जो अनुभूति हुई ''पाँचवा देवलोक का मुक्ता नामक १८०वाँ विमान'', यह प्रकट करना चाहा।

२२ अक्टूबर की अन्तिम रात्रि लगभग चार बजे जहाँ तपस्वी जी का संथारा बिछा था, उस कोटडी में अचानक एक दिव्य प्रकाश सा प्रविष्ट हुआ और कुछ ही क्षणों में धीरे-धीरे प्रकाश लुप्त हो गया।

२५ अक्टूबर को मध्यान्ह में ४२ दिन के संलेखना, संथारा पूर्वक उनका स्वर्गवास हो गया।[५]

महासती कंकुजी म. का संथारा

पूज्य माता महासती कंकुबाई महाराज के हृदय में संथारा की प्रबल भावना थी। वे अनेक बार मुझसे कहते थे-''मैं अन्तिम समय में संथारा के बिना नहीं चली जाऊँ। आप मुझे अवश्य सहयोग करना। माता का जीवन ही नहीं, मरण भी मंगलमय बना देने वाला पुत्र ही सुपुत्र होता है। इसलिए आप मेरा ध्यान रखना।'' उन्होंने जीवन में अनेक लम्बी-लम्बी तपस्याएँ कीं। उदर व्याधि से पीड़ित होने पर भी तप के प्रति मन में गहरी निष्ठा थी। अनुराग था। अन्तिम समय में जब शरीर घोर व्याधि से ग्रस्त हुआ और जीवन की स्थिति डॉवाडोल लगने लगी तब आपने अत्यन्त धैर्य व साहस के साथ कहा-''अब मेरा अन्तिम समय निकट दीख रहा है, अतः मुझे दवा आदि कुछ नहीं चाहिए। सब कुछ छोड़कर अब मुझे संथारा करवा दीजिए। मेरा जीवन सफल हो जायेगा।''

मैंने देखा-पूज्य महासती जी का शरीर एक तर्फ व्याधि से पीड़ित था। डॉक्टर आदि दवा के लिए आग्रह कर रहे थे। दूसरी तर्फ वे व्याधियों की वेदना से असंग जैसे होकर कहते हैं-''बीमारी तो शरीर को है, शरीर भुगत रहा है; मेरी आत्मा तो रोग-शोक-पीड़ा से मुक्त है। अब मैं आत्मभाव में स्थित हूँ, मुझे शरीर व्याधि की कोई पीड़ानुभूति नहीं है, मुझे संथारा पचखा दो, मेरा मन प्रसन्न है। मेरी आत्मा प्रसन्न है।''

शरीर के प्रति इस प्रकार की अनासक्ति तभी होती है जब साधक के मन में भेद-विज्ञान की ज्योति जल उठती है, शरीर और आत्मा की पृथक्ता का अनुभव होने लगता है और शरीर के सुख-दुःख से मन असंग-अप्रभावित रहता है।

गुप्ततपस्वी श्री रोशनलालजी म.

तपस्वी श्री रोशनलालजी म. का संथारा यद्यपि बहुत लम्बा नहीं हुआ, किन्तु उनके जीवन में संलेखना-तप का बड़ा आश्चर्यजनक रूप देखने को मिलता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे गुप्त तपस्वी थे। लम्बी-लम्बी तपस्याएँ चलती रहतीं, श्रावक दर्शन करने आते और चले जाते, परन्तु किसी को उनके दीर्घ तप का पता नहीं चलता। जब पारणा हो जाता, तब लोग आश्चर्यपूर्वक सुनते, आज तपस्वीजी का ३२वाँ, या ३०वाँ दिन के उपवास का पारणा हुआ। गुप्त तप के साथ शान्ति, समभाव और स्वाध्याय-लीनता भी अद्भुत थी। जीवन में उन्होंने अनेक लम्बी तपस्याएँ व एकान्तर तप किये।

एक बार उनके उदर में भयंकर दर्द उठा, दर्द असह्य होता चला गया तब अचानक उनके मन में संकल्प उठा-''अब इस शरीर का कोई भरोसा नहीं है, कब रोगों का आक्रमण हो जाय। अतः कल से ही मैं बेले-बेले निरन्तर तप करूँगा।'' इस वज्र संकल्प का आश्चर्यकारक प्रभाव हुआ कि थोड़ी ही देर में पेट का असह्य शूल शान्त हो गया। दूसरे दिन ही आपने बेले-बेले तप प्रारंभ कर दिया, जो निरन्तर १२ वर्ष तक चलता रहा।

तप का प्रभाव

सन् १९६५ में मेरा चातुर्मास सिकन्द्राबाद था। उस समय तपस्वी रोशनलालजी म. जोधपुर में चातुर्मास कर रहे थे। उस समय पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया था। जोधपुर सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ठिकाना था। पाकिस्तान ने जोधपुर को अपने बमों का निशाना बनाया। सिकन्द्राबाद में भी जोधपुर के अनेक लोग रहते थे। जोधपुर पर बम गिरने की बातें सुन-सुनकर वे बड़े चिन्तित हो रहे थे। एक दिन मैंने अपने प्रवचन में कहा-जोधपुर के आसपास चाहे जितने बम गिरें, परन्तु जोधपुर शहर को कोई खतरा नहीं हो सकता। लोगों ने पूछा-''क्यों?''

मैंने कहा-''वहाँ तपस्वी रोशनलालजी म. का चातुर्मास है। जहाँ पर ऐसे घोर तपस्वी सन्त विराजमान हों, वहाँ पर शत्रु के भयंकर प्रहार भी निष्फल हो जाते हैं।'' आश्चर्य की बात है कि जोधपुर पर पाकिस्तान के विमानों ने सैकड़ों बम गिराये, परन्तु सभी के निशाने चूकते गये, जोधपुर शहर को कुछ भी क्षति नहीं हुई।

तपस्वी रोशनलालजी म. का यह प्रत्यक्ष तपः प्रभाव सभी लोगों ने अनुभव किया।

वि. सं. १९८२ में त्रीनगर (दिल्ली) में जब वे अत्यधिक अस्वस्थ हो गये तो शिष्यों को संकेत कर उन्होंने चौविहार संथारा पचख लिया। २ दिन के स्वल्पकालिक संथारा पूर्वक समाधिमरण प्राप्त किया।

तपस्वी जी के मन में समभाव और जीवन के प्रति अनासक्ति का जो स्वरूप मैंने देखा वह किसी विरले ही सन्त में दिखाई देता है।

तपस्वी बद्रीप्रसाद जी म. का संथारा

तपस्वी श्री बद्रीप्रसाद जी म. का संथारा इस दशक में बहुत ही चर्चित रहा है। इस संथारे की प्रतिक्रिया लगभग सर्वत्र अच्छी प्रभावनाशील रही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपस्वी जी का जन्म सन् १९०६ में हरियाणा के रिण्ढाणा (सोनीपत) ग्राम में हुआ। सन् १९४५ में व्याख्यान वाचस्पति श्री मदनलालजी म. के पास भागवती जैन दीक्षा ग्रहण की और सन् १९८७, सोनीपत में ७३ दिन के संथारा पूर्वक स्वर्गवास हो गया।

आपने जीवन में कोई विशेष लम्बी तपस्याएँ नहीं कीं, किन्तु जीवन के संध्याकाल में जिस प्रकार दीर्घ संथारा संलेखना करके जीवन को कृतार्थ किया और समूचे विश्व में जैन जीवन शैली को प्रतिष्ठित किया, यह सचमुच एक ऐतिहासिक कार्य हुआ।

सन् १९८७ के अगस्त मास में महान तपस्वी जैन सन्त श्री बद्री प्रसादजी म. ने देहली के निकट सोनीपत (हरियाणा) में ७३ दिन का सुदीर्घ संथारा किया था, देश-विदेश की समाचार ऐजेन्सियाँ–पी. टी. आई., यू. एन. आई. आदि के प्रतिनिधियों ने वहाँ जाकर जो कुछ देखा, समझा, वह उनकी भौतिक समझ से परे था। अनेक डाक्टर, वकील, बड़े-बड़े राजनेता, सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भी तपस्वीजी के दर्शन किये, उनसे बातचीत की। शरीर एवं मन की स्थितियाँ देखीं तो सभी ने यह अनुभव किया कि शरीर की स्थिति अत्यन्त क्षीण व निराशाजनक होते हुए भी उनके चेहरे पर तेज-ओज था। उनकी वाणी में दृढ़ता और जीवन के प्रति अनासक्ति एवं मृत्यु के प्रति अभय भावना बड़ी अद्भुत व आश्चर्यजनक थी। ऐसा लग रहा था कि शरीर की क्षीण दीवट में दिव्य आत्म-ज्योति दीपक दीप्तिमान है।

तपस्वी जी के अन्तेवासी श्री सुन्दरमुनिजी की रिपोर्ट के अनुसार १९ जुलाई से ४ अगस्त के बीच सिर की चोट, फिर हार्ट के एनाजाइना पेन, तथा बाद में दस्त आदि के कारण उनकी शरीर स्थिति अत्यन्त क्षीण हो चुकी थी। ४ अगस्त को डॉक्टरों ने उनके शरीर का परीक्षण करके कहा–मुनिजी के शरीर का जल खत्म हो चुका है। अतः तुरन्त ग्लूकोज दिया जाये अन्यथा २४ घंटा से अधिक जीवित रह पाना संभव नहीं है। किन्तु उस स्थिति में मुनिश्री बद्रीप्रसाद जी ने बार-बार अपने शिष्यों से आग्रह करके कहा–"अब मुझे न कोई दवा की जरूरत है, और न ही अन्य किसी चीज की। मैं जीवन भर के लिए अन्न को त्यागकर शान्तिपूर्वक आत्मस्थ होना चाहता हूँ। मुझे शास्त्र सुनाओ और भक्ति पूर्ण स्तोत्र आदि का निरन्तर पाठ कराओ।"

५ अगस्त को उन्होंने संथारा व्रत ग्रहण किया। उसके २६ घंटा बाद उनकी शारीरिक स्थिति में एकाएक परिवर्तन आने लग गया। पहले जबान लड़खड़ा रही थी, किन्तु अब वह स्पष्ट और सशक्त हो गई। पहले उनका चेहरा मुर्झाया था, किन्तु २६ घंटा बाद जैसे भीतर से आभा दमक कर फूटकर बाहर आ रही है, मुख मुद्रा तेजस्वी दीखने लगी। शरीर- स्थिति में यह आश्चर्यजनक रासायनिक परिवर्तन आ गया, जो शरीर विज्ञान की समझ से परे था।

१६ सितम्बर तक तो शरीर अस्थिसंहनन (हड्डियों का ढाँचा मात्र) रह गया। पसलियों को एक-दो-तीन करके गिना जा सकता था। पांवों और हाथों की खाल ऐसे लटक गई थी जैसे पुराने वट वृक्ष की शाखाएँ लटक जाती हैं.....। किन्तु उनके चेहरे पर काफी चमक थी, जो आत्मा की प्रसन्नता प्रकट करती थी। सशक्तता भी थी। ८ अक्टूबर से तो जल का भी त्याग कर दिया था। १० अक्टूबर को सुन्दर मुनि के पूछने पर उन्होंने कहा–"मैं अब मृत्यु से अतीत पार का जीवन जी रहा हूँ। मेरा मन बहुत प्रसन्न है...... जिस शान्त तेजोमय शक्ति से जी रहा हूँ। वह वाणी से अगम्य है..... तुम चाहो तो उसका अनुभव कर सकते हो......."

११ अक्टूबर से उन्होंने सम्पूर्ण मौनव्रत धारण कर लिया... और १६ अक्टूबर को ७३ दिन के दीर्घ अनशन काल में समाधिपूर्वक देह त्याग किया। प्राण त्यागते समय बिल्कुल शान्ति के साथ उन्होंने नाभिकेन्द्र को झकझोरा, तीन लम्बे साँस लिये, आँखें पूरी खुल गई, केश खड़े हो गये।... एक प्रकाश पुंज निकलता सा प्रतीत हुआ।

इस महान तपस्वी के संथारा का प्रत्यक्ष दर्शन करने वाले सैंकड़ों हजारों जनों ने अध्यात्मशक्ति को सहज अनुभव किया, अन्तःकरण में यह भावना भी कि–'हे प्रभु ! हमें भी इसी प्रकार का शान्तिपूर्वक समाधिमरण प्राप्त हो।" किन्तु कुछ सांप्रदायिक भावना रखने वाले, धर्म और अध्यात्म नाम से ही नफरत करने वाले लोगों ने इस संथारा पर टीका टिप्पणी भी की। प्रश्नचिन्ह भी लगाये...... किन्तु फिर भी इस भौतिकवादी युग में यह एक ऐसा प्रत्यक्ष उदाहरण था जिसने सभी को अध्यात्म की अगम्य-शक्ति के समक्ष नतमस्तक कर दिया।

मनुष्य शरीर और इन्द्रियों के प्रति किस प्रकार निरपेक्ष होकर शान्ति एवं समाधिपूर्वक जी सकता है, और मर भी सकता है। इस विषय पर सोचने को बाध्य करता है। मृत्यु का सहज वरण करने की यह अध्यात्म प्रक्रिया-शान्ति मृत्यु का मार्ग प्रशस्त करती है।[६]

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. का आदर्श समाधिमरण

आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज इस युग के एक अत्यन्त प्रभावशाली चारित्रनिष्ठ बहुश्रुत आचार्य हुए हैं। उन्होंने जीवन भर सामायिक-स्वाध्याय, व्यसन मुक्त जीवन के लिए हजारों हजार व्यक्तियों को प्रेरणा और मार्गदर्शन दिया। जैन धर्म के इतिहास लेखन का एक विशिष्ट कार्य किया। शरीर से सामान्य कृशकाय थे। परन्तु उनका मनोबल अद्भुत था। वैसे जीवन में तेले से अधिक का दीर्घ तपश्चरण नहीं कर सके, किन्तु जीवन के संध्याकाल में, अत्यधिक शारीरिक अस्वस्थता के बाबजूद अचानक ही इतना अद्भुत आत्मबल जागृत हुआ कि तप संलेखना करते हुए यावज्जीवन संथारा की स्थिति में पहुँच गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि. सं. १९६७ पोषसुदि १४ को पीपाड़ (राजस्थान) में आचार्यश्री का जन्म हुआ।

वि. सं. १९७७ माघसुदि-२, १० वर्ष की अवस्था में भागवती दीक्षा ग्रहण की।

अस्सीवें वर्ष में शारीरिक अस्वस्थता के कारण उन्हें आयुष्य बल की क्षीणता का अनुभव हुआ। अन्तर्दृष्टि से मृत्यु को नजदीक आता देखकर सहसा उन्होंने चौविहार तेला (३ दिन का उपवास) किया। डॉक्टरों ने तथा शिष्यों, श्रावकों आदि ने तरल आहार ग्रहण करने तथा ग्लुकोज, ड्रिप इंजेक्शन आदि लेने के लिए बहुत-बहुत आग्रह किया। किन्तु आचार्य श्री अपने लक्ष्य के प्रति स्थिर हो चुके थे। उन्होंने सभी को एक ही उत्तर दिया–'मेरे जीवन की समाधि में कोई विघ्न मत डालो, अब मुझे मौन आत्मलीनता में ही आनन्द की अनुभूति होती है।'

अत्यधिक शारीरिक दुर्बलता के बाबजूद भी उनकी मुखमुद्रा पर तेज और वाणी में अदम्य आत्म विश्वास था। तीन दिन के चौविहार तप के बाद उन्होंने यावज्जीवन संथारा के लिए अपनी अन्तर् इच्छा प्रकट की। उनकी समाधिलीन स्थिति देखकर दर्शक भाव विमुग्ध हो रहे थे। चौथे दिन यावज्जीवन संथारा स्वीकार किया और बड़े समाधिभाव के साथ संथारे के दसवें दिन निमाज (राजस्थान) में स्वर्गवासी हुए।[७]

आचार्य श्री के संथारे की स्थिति में हजारों श्रावकों के अतिरिक्त मुसलमान व अन्य धर्मावलम्बियों ने भी उनके दर्शन किये, और जिसने भी उनकी इस समाधिस्थ प्रशान्त स्थिति को देखा, वह अन्तःकरण से उनके प्रति श्रद्धावनत हो गया।

प्रवर्तक श्री कल्याणऋषिजी का दीर्घ संलेखना-संथारा

अभी सन् १९९४ में श्रमण संघ के वयोवृद्ध संत प्रवर्तक श्री कल्याणऋषि जी के संलेखना-संथारा की घटना तो सभी ने सुनी है। उन्होंने पूर्ण सचेतन अवस्था में जीवन का संध्या काल निकट जानकर संलेखना व्रत प्रारंभ किया और बड़े उत्कृष्ट परिणामों के साथ प्रसन्नतापूर्वक देहत्याग किया। वे छियासी वर्ष के थे और नियमित रूप में अपनी साधुचर्या का निर्वाह कर रहे थे। उनको लगा, अब शरीर काफी अशक्त हो गया है। चलने-फिरने, उठने में भी ग्लानि अनुभव होती है, खाते-पीते अचानक ये प्राण निकल जायें, इससे तो श्रेष्ठ है तप, स्वाध्याय, आलोयणा-प्रायश्चित्त आदि से जीवन को विशुद्ध बनाकर शरीर के प्रति निर्मोह स्थिति में मित्र की भांति मृत्यु का स्वागत किया जाये।

बस इस महान संकल्प के साथ उन्होंने तपस्या (संलेखना) व्रत प्रारंभ किया। बीसवें उपवास के दिन, २७ जनवरी को उन्होंने चतुर्विध श्री संघ के समक्ष पूर्ण जागृत अवस्था में संथारा ग्रहण किया। श्रावकों को अपने मुख से अन्तिम बार मंगलपाठ सुनाया। पूर्ण समाधिभाव पूर्वक १४ दिन का संथारा पूर्णकर ३३ दिन का संलेखना-संथारा की आराधना कर पंडित मरण प्राप्त किया।

आपके संथारा की स्थिति में अनेक साधु साध्वियों ने दर्शन किये। अनेक राजनेता तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भी संथारा में आपके दर्शन किये और चेहरे पर जीवन के प्रति कृतकृत्यता और प्रसन्नता की अनुभूति देखकर धन्य-धन्य कहने लगे।

इस प्रकार संथारा संलेखना के प्राचीन तथा वर्तमान कालिक उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से एक बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जीवन के प्रति निर्मोह दशा आने पर ही मन में संथारा का संकल्प उठता है। जब तक शरीर व प्राणों के प्रति जरा सी भी आसक्ति रहती है–अन्न-जल का त्याग नहीं किया जा सकता। शरीर के प्रति पूर्ण अनासक्ति और मृत्यु के प्रति संपूर्ण अभय भावना जागृत होने पर ही संथारा स्वीकार किया जाता है और पूर्ण समाधिपूर्वक जीवन को कृत-कृत्य बनाया जाता है। त्यागी उच्च मनोबली संत सतियाँ समय-समय पर होते रहे हैं। जिन्होंने जीवन को संथारा संलेखना द्वारा कृतार्थ किया।

इस प्रकार की प्राचीन व वर्तमानकालीन घटनाओं का विश्लेषण यही बताता है कि मनुष्य ही नहीं, किन्तु कुछ विवेकवान अन्य प्राणियों में भी जीवन के अन्तिम क्षणों में एक विचित्र समाधि, शान्ति व सौम्यता की भावना जाग जाती है जो हमें "समाधिमरण" का अर्थ समझाती है और संथारा संलेखना की सार्थकता/उपयोगिता भी बताती है।

● ●

१. अन्तकृद्दशासूत्र, वर्ग ३. अध्ययन ८
२. अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र, वर्ग–३, अ. १
३. वि. सं. २०२४, माघ शुक्ला सप्तमी, जनवरी १९६८
४. निर्वाण के पथ पर–लेखक श्री जयन्ती मुनिजी के आधार से।
५. तपस्वी चतुरलालजी महाराज जीवन चरित्र : प्रकाशक : दरियापुरी आठ कोटी स्थानकवासी जैन संघ, अहमदाबाद।
६. महावीर मिशन, मासिक, दिल्ली, विशेषांक–वर्ष १५, अंक ४
७. जिनवाणी, श्रद्धांजली विशेषांक में आचार्य श्री के शिष्य श्री गौतममुनिजी के वर्णन के आधार पर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org